हिंदी कविता के सामने सवाल



हिंदी कविता के सामने कई तरह के सवाल हैं, आरोप भी। गंभीर होने के बावजूद अंतरबद्धताओं, अंतर्साक्ष्यों और उपयुक्त विश्लेषणों के अभाव में ये सवाल और आरोप तदर्थ बनकर रह जाते हैं। सवालों का तदर्थ आचरण जीवन को भी क्षतिग्रस्त करता है और साहित्य को भी। कहना न होगा कि सवालों का तदर्थ आचरण तदर्थ विचार या विचारहीनता की ओर हाँक ले जाता है। एक दूसरा पक्ष भी है, और वह प्रशंसाओं का है। हिंदी कविता प्रशंसाओं के बोझ से भी कम आक्रांत नहीं है। वर्द्धित 1 प्रशंसा कई बार जरूरी सवालों से मुँह चुराकर निकल जाने का राजपथ बनाती हैं। इसमें तत्काल कोई खतरा नहीं होता है। तात्कलिक रूप से खतरा भले न हो लेकिन आगे चलकर इसकी भारी कीमत चुकानी ही पड़ती है!

वर्गबोध का लोप और मध्यवर्गीय चेतना

कहते हैं कि शेर अपना शिकार खुद करता है। इसी तर्ज पर कहा जा सकता है कि ‘आदमी’ अपना काम खुद करता है। अपना काम खुद करने से परहेज ‘आदमी’ होने की संभावनाओं में छीजन पैदा करता है। जीवन में कौंध भले ही कई बार अनायास प्रकट होती है लेकिन हमारा अनुभव बताता है कि जीवन में जो भी महत्त्वपूर्ण घटता है सायास घटता है। आदमी का ‘इन्साँ’ होना आसान नहीं इसके लिए संघर्ष करना पड़ता है -- ‘बसकि दुश्वार है, हर काम का आसाँ होना / आदमी को भी मुय्यसर नहीं इन्साँ होना’2। मनुष्य ने बहुत संघर्ष किया है। उसके संघर्ष का उद्देश्य जीवन में संघर्ष और जोखिम को कम करना भी रहा है। न्यूनतम परिश्रम से अधिकतम को हासिल करना उसके उद्यम का सार है। न्यूनतम परिश्रम की वृत्ति ने उसमें मशीन के साथ ही आदमी -- अर्थात ‘दूसरे’ -- के श्रम और शोषण पर आश्रित होने की प्रवृत्ति को भी जन्म दिया है। जिसके पास जितनी पूँजी होती है, धन होता है उसके पास दूसरे के श्रम पर आश्रित होने की भी उतनी ही सुविधा होती है। श्रम, पूँजी और धन के आधार पर वर्ग बनता है। मध्यवर्ग के पास पूँजी तो कम ही होती है श्रम और धन होता है। मध्यवर्ग श्रम और धन के रिश्ते को भी जानता है। इधर मध्यवर्ग के लिए पूँजी से जुड़ने के अवसर बढ़े हैं। जिनके पास धन है उनमें बिना किसी श्रम के अर्थात ‘अनायास’ हासिल करने की लालसा भी बढ़ी है। ‘अनायास’ हासिल करने की वृत्ति शोषण को न सिर्फ वैध बनाती है, बल्कि उसे जीवन-दर्शन का भी दर्जा प्रदान करती है। समाज के संपन्न वर्ग के चरित्र का असर सभी वर्ग पर पड़ता है, मध्यवर्ग पर कुछ ज्यादा पड़ता है। साहित्य-संस्कृति-कला के सृजन-क्षेत्र में उच्च-मध्यवर्ग ही सर्वाधिक सक्रिय रहता आया है; आज की हिंदी कविता भी उच्च-मध्यवर्गीय मनोभावों, मनोरथों और आकांक्षाओं से जुड़ी हुई है। आज सभी वर्गों के जीवन में अनायास हासिल करने की आकांक्षा, पहले की अपेक्षा अधिक बलवती हो उठी है। उच्च और उच्च-मध्यवर्ग में यह आकांक्षा खतरनाक हद तक बढ़ी है। किसी चीज के अनायास -- लगाव, स्वप्न और संघर्ष के बिना -- हासिल हो जाने का अपना मजा है। ऐसे में ‘वास्तव’ का महत्त्व घटता है और ‘आभास’ का बढ़ता है -- ‘वास्तव’ से अधिक ‘आभास’3 में मजा आता है। हमारे समय का मुहावरा है मजा। मजा हमें परिचालित करता है। साहित्य में भी इस ‘अनायास’ का दबाव बढ़ा है, आभास की स्वीकृति बढ़ी है। नामवरजी ने 1963 में ही इस प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए कहा था कि ‘जिसे आज ‘काव्याभास’ कहा जा रहा है वह अधिकांशत: ‘अनायास लेखन’ है। कविता में महत्त्वबोध का क्षय अनिवार्यत: ‘अनायास लेखन’ की ओर ले जाता है। ‘अनायास लेखन’ अंतत: ‘अनायास ग्रहण’

को प्रश्रय देता है और इस प्रकार आगे चलकर दायरा पूरा हो जाता है। अनायास लिखने के साथ अनायास पढ़ने की क्रिया अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। कौन कारण है और कौन कार्य -- कहना कठिन है। लेकिन इतना निश्चित है कि आज ‘अनायास ग्रहण’ की क्रिया समाज में व्यापक रूप से फैल रही है : अधिकांश लोग आज जिस तरह सिनेमा की फिल्में देखते हैं, रेडियो के प्रोग्राम सुनते हैं, अखबारों की खबरें पढ़ते हैं और सड़कों के विज्ञापनों पर उड़ती नजर डालते हैं उसी तरह उपन्यास, कहानी और कविताएँ भी पढ़ते हैं क्योंकि अनजाने और सूक्ष्म ढंग से उन्हें सिखाया गया है कि ये चीज इसी तरह अनायास ही ग्रहण करने के लिए बनी हैं -- इन्हें ग्रहण करने के लिए आयास करना बेवकूफी है। यह जहर इतनी दूर तक फैल गया है कि कि लोग अपने आपसी मानवीय और सामाजिक संबंधो नें भी मशीन की तरह अनायास व्यवहार करने लगे हैं -- यहाँ तक कि खाने-पीने, सोने-जागने जैसी बुनियादी क्रियाओं में भी मनुष्य ‘अनायस ग्रहण’ का आदी हो चला है। .... कहाँ तो वह युग जब जड़-प्रकृति पर भी मानवीयता का आरोप करके कविताएँ लिखी जाती थीं और काव्य-शास्त्र में ‘मानवीयकरण’ को एक अलंकार के रूप में प्रतिष्ठा मिली और कहाँ मनुष्य पर भी जड़ता का आरोप करके उसे ‘वस्तु’ के रूप में चित्रित करने का नया विधान!’4

कविता में विचारधारा एवं भावधारा के द्वंद्वों-तनावों के निभाव के लिए प्रतिबद्धताओं एवं संबद्धताओं का काव्यात्मक स्पेस घटा है। कविता के अंत:करण के आयतन में ऐसा संकोच उत्पन्न हुआ है कि कविता के लिए मध्यवर्गीय चेतना को जनचेतना में बदलने का अवकाश बहुत कम हो गया है। जनचेतना के सामाजिक चेतना में बदले जाने के काव्य-प्रयास के लिए हिंदी कविता को एक बड़े कवि की अभी प्रतीक्षा ही है। कविता के अंत:करण को सामाजिक बदलाव के उपकरण में बदलना थोड़ा मुश्किल तो होता ही है। इस काम के लिए वर्गीय चेतना को जनचेतना, जनचेतना को सामाजिक चेतना और फिर सामाजिक चेतना को राजनीतिक चेतना में बदलने के अंतर्बिद्ध एवं चाक्रिक सातत्य से गुजरना पड़ता है। हिंदी कविता का एक पक्ष -- जो कि अब धीरे-धीरे कमजोर भी होता जा रहा है -- जनचेतना एवं सामाजिक चेतना की अवहेलना करते हुए वर्गचेतना को सीधे राजनीतिक चेतना में बदलने की हड़बड़ी में रहा है। दूसरा पक्ष -- साहित्य की स्वायत्तता के नाम पर -- इन सबकी अवहेलना करते हुए व्यक्ति-चेतना की धुन में रहा है। सामाजिक के उपभोक्ता में बदलते जाने के दौर में यह हड़बड़ी और धुन अपने ऐसे उठान पर है, जहाँ कविता का ‘अपना मोर्चा’ ढह गया लगता है।

संवेदना की संरचना और विचारधारा के सवाल

विचारधारा से प्रतिबद्धता और कविता की स्वायत्तता साहित्य के प्रमुख सवालों में है। प्रेमचंद के समय भी यह सवाल उठा था। हालाँकि, उस समय कविता के समक्ष दूसरे सवाल थे। ध्यान में होना ही चाहिए कि हिंदी का गद्य-समय जब ‘गोदान’ रचना की त्रासद प्रक्रिया से गुजर रहा था तब हिंदी के काव्य-समय में ‘कामायनी’ के ‘आनंद शिखर’ की तलाश चल रही थी। समाज और साहित्य की दृष्टि से ‘गोदान’ और ‘कामायनी’ दोनों ही अपने प्रभाव में हिंदी साहित्य के लिए अप्रतिम हैं। यहाँ सिर्फ दृष्टि-भिन्नता की ओर संकेत करना अभीष्ट है। ‘गोदान’ का महत्त्व जहाँ हिंदी साहित्य की सार्थक अंतर्वस्तु की महत्ता दृष्टि से अप्रतिम है वहीं ‘कामायनी’ का महत्त्व हिंदी भाषा में अभिव्यक्ति की सर्वोच्च क्षमता की संभावनाओं के हासिल करने से है। प्रेमचंद का ‘गोदान’ ग्रामीण-जन के संघर्ष की महागाथा है और जयशंकर प्रसाद की ‘कामायनी’ नगर-केंद्रिक सभ्यता के महास्वप्न का संधान है। ग्राम और नगर में ऊपरी भेद चाहे जितना हो इनकी आंतरिक एकता में ही जीवन के कोमल तंतु विकसित होते हैं। कहना न होगा कि एक ही सामाजिक को संघर्ष भी करना होता है और स्वप्न भी देखना होता है। संघर्ष और स्वप्न को परस्पर भिड़ा दिया जाना एक बिडंबना है। संघर्ष और स्वप्न के भिड़ान का गहरा असर हिंदी कविता पर आज भी बना हुआ है। इस संघर्ष और स्वप्न का अपना वर्ग-चरित्र भी है। इस वर्ग-चरित्र का अतिक्रमण एक मुश्किल काम है। मुक्तिबोध ने इस बात को रेखांकित किया था कि ‘नंददुलारे वाजपेयी और प्रेमचंद की मुठभेड़ विचारधारागत थी। प्रेमचंद की जनतांत्रिक मनोधारा भारतीय संस्कृति के सौंदर्यलोक में पलनेवाले आध्यात्मिक

माया-स्वप्नों से अनुस्यूत कलावाद से टकरा जाती थी। वाजपेयी और प्रेमचंद का झगड़ा आकस्मिक नहीं था। वह प्राकृतिक और अनिवार्य था।'5 संघर्ष और स्वप्न के तनाव और दबाव से विचारधारा का गहरा रिश्ता होता है। विचारधारा का निषेध अंतत: स्वप्नहीनता और संघर्षहीनता की ओर ही ले जाता है। स्वप्नहीनता और संघर्षहीनता के कारण विचारहीनता का माहौल तो बना ही, चिंताजनक बात यह कि साथ में लोकराग भी कविता से बहिष्कृत होता चला गया। अपनी घोषित सामाजिक दायित्वशीलता के बावजूद हिंदी कविता चाक-चौबंद और चतुर 'बौद्धिक स्थिति' की गिरफ्त में है। बौद्धिकता की पड़ताल तो अलग से की जा सकती है, यहाँ इतना टाँक रखना ही पर्याप्त है कि 'बौद्धिकता' में 'भावुकता' का अंश तो हो सकता है लेकिन 'भावुकता' और 'चतुराई' किसी भी हालात में 'बौद्धिकता' का विकल्प नहीं हो सकती हैं। जिस भाषा-समाज का बहुत बड़ा भाग अभी निरक्षर ही बना हुआ है, उस समाज की कविता में 'निरक्षर-संवेदना' के लिए कोई सहज जगह ही न हो, तो इससे बड़ी बिडंबना और क्या हो सकती है ! मंगलेश डबराल के शब्दों में कहें तो -- 'अब हम लगभग निश्शब्द हैं। हम नहीं जानते कि क्या करें। हमारे पास कोई रास्ता नहीं बचा कागजों को फाड़ते रहने के सिवा।'6 एक ईमानदार आत्मस्वीकृति का अपना मोल होता है। आज हिंदी कविता इस स्थिति में पहुँचकर संस्कृति और विकृति के अंतर को पाट नहीं पा रही है। बाजारवाद और जनतंत्र के बीच के संघर्ष का अपना राजनतिक और सामाजिक पाठ है। राजनीतिक पाठ पर विचारधारात्मक -- विचारधारा के प्रभावी बने या नहीं बने रहने के सवाल पर -- शोर है तो सामाजिक पाठ पर मरघटी सन्नाटा है। मनोरंजन में तात्कालिकता होती है। संस्कृति में चिरंतनता होती है। मनोरंजन की तात्कालिकता और संस्कृति की चिरंतनता अभिन्न होती है। सांस्कृतिक उपादानों के माध्यम से होनेवाले मनोरंजन के उपरांत जो बचता है, सांस्कृतिक स्तर पर वह बहुमूल्य होता है। जितना बड़ा मनोरंजन होता है उसका उपरांत भी उतना ही बड़ा होता है। आज एक प्रकार की हिंदी कविता में मनोरंजन और दूसरे प्रकार की कविता में मनोरंजन का उपरांत होता है। मनोरंजन और उसका उपरांत अपने भाव की अभिन्न मुद्रा में पाठक को हासिल नहीं है।

सृजन की सार्वजनिकता और छंद में कविता

कविता के बारे में सोचते हुए छंदों की ओर भी ध्यान जाना स्वाभाविक है। कविता और कहानी का अंतर स्पष्ट करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा था कि ''कविता सुननेवाला किसी भाव में मग्न रहता है और कभी-कभी बार-बार एक ही पद्य सुनना चाहता है। पर कहानी सुननेवाला आगे की घटना के लिए आकुल रहता है। कविता सुननेवाला कहता है ''जरा फिर तो कहिये।'' कहानी सुननेवाला कहता है, ''हाँ तो फिर क्या हुआ?''7 इस बात को यों भी समझा जा सकता है कि कविता जाने हुए को नये सिरे से जानने, भोगे हुए को नये सिरे से भोगने -- अर्थात, कविता जीवन में दोहरावों के लिए, 'फिर-फिर' के लिए, अद्भुत अवसर सिरजती है। इस तरह कविता 'भोगो और भूलो' के बदले 'भोगो और बचाओ'8 की संभावनाओं की मनोभूमि पर जीवन की गतिमयता और गेयात्मकता को बचाने की मनोरम अल्पना रचती है। इस काम में छंद बड़ा सहायक होता है। इस दृष्टि से छंद 'काव्यत्व' के लिए उपयोगी होता है। यहाँ एक खतरा भी है। इस खतरा पर ध्यान देना जरूरी है। असल में छंद काव्याभास तैयार करता है। छंदबद्धता में काव्याभास सहज ही उपलब्ध हुआ करता है। छंद के के आधार पर काव्याभास को काव्य मान लिये जाने का खतरा होता है। यह समझना भारी भूल होगी छंद में कविता होती है। असल बात यह है कि कविता में छंद निहित होता है। कविता होना जरूरी है, चाहे वह छंदबद्ध हो या छंदमुक्त।

छंदमुक्त कविता के नैसर्गिक पाठक को कुछ-एक पाठ के बाद सहज ही विश्वास हो जाता है कि जितनी देर में वह कविता पढ़ेगा उससे कम समय में कविता लिख लेगा, वह भी अनायास या किसी बड़े प्रयास के बिना। छंदमुक्त कविता का नैसर्गिक पाठक शीघ्र ही विशिष्ट-सामान्य कवि में, कथाकार आदि में या फिर आलोचक में बदल जाता है; कई बार तो साहित्य से विरत भी हो जाता है। कविता की रचना के संदर्भ में यह स्थिति अच्छी भी है और बुरी भी है। अच्छी स्थिति

यह कि कवियों की संख्या बढ़ने की अनंत संभावनाएँ इसमें निहित होती हैं। बुरी स्थिति यह कि इसमें छंदमुक्त कविता के नैसर्गिक पाठक के खो जाने की अननंत आशंकाएँ भी निहित होती हैं। दुखद सच यह है कि इस बुरी स्थिति का प्रभाव छंदमुक्त हिंदी कविता पर कुछ अधिक ही पड़ा है। इस अर्थ में छंदमुक्त हिंदी कविता हिंदी साहित्य की सार्वजनिक विधा है। जो भी हो यह तो माना ही जाना चाहिए कि वस्तु जितनी अधिक सार्वजनिक होती है, उसका उतना ही अधिक उपयोग भी होता है। जिसमें उपयोग की जितनी अधिक सुविधाएँ होती हैं, उसमें दुरुपयोग की आशंकाएँ भी उतनी ही अधिक होती हैं। जिसमें जरा भी सृजनशीलता या अभिव्यक्ति की अकुलाहट है, उसके लिए कविता के ढाँचे में अपने मनोभाव को कह देने के भ्रम का जितना अधिक अवसर होता है, उतना अधिक अवसर और किसी विधा में नहीं होता है। यह सच है कि कविता के ढाँचे में कही गई सभी अभिव्यक्तियों की अंतर्वस्तुओं और उन अंतर्वस्तुओं के संयोजन का काव्यात्मक गुणवत्ता की दृष्टि से उच्च नहीं होना कोई अस्वाभाविक घटना नहीं है। कविता पर बात करते समय अक्सर इस तरह से लिखी जा रही तमाम कविताओं को आधार बनाकर निराशाजनक मंतव्य प्रकट किये जाते हैं। यह मान लेने में संकोच नहीं होना चाहिए कि जिस विधा में इतने व्यापक पैमाने पर रचना हो रही है, भले ही वह साहित्यिक गुणवत्ता की दृष्टि से बहुत मूल्यवान न हो सामाजिक और नागरिक दृष्टि से उसके मूल्य को कमतर आँकना ठीक नहीं है। साहित्यिक गुणवत्ता का अपना महत्त्व है लेकिन नागरिक और सामाजिक मनोभावों को समझने में असफल मानी जानेवाली कविताओं का अपना महत्त्व है। यह उसी कोटि का महत्त्व है जिस कोटि का महत्त्व समाज-शास्त्र या नागरिक-शास्त्र में असफल मानेजानेवले सामाजिक-जीवन या नागरिक-जीवन का होता है। दिक्कत दूसरी है। इस समय लिखी जा रही और श्रेष्ठ मानी जानेवाली अधिकतर कविताएँ किसी दूसरे के काम की तो कम ही ठहरती हैं, खुद सर्जक कवि के लिए भी गाढ़े वक्त काम आनेवाली कोई थाती नहीं बन पाती हैं।

कचरे के ढेर पर मसीहा

यह समय संकायों की सीमाओं और संप्रभुताओं के टूटन का समय है। सीमाओं और संप्रभुताओं के टूटन में अंतर्मिलन से अधिक अतिक्रमण की प्रवृत्ति है। साहित्य की सभी विधाओं का सार नाट्य में उपलब्ध होता है। इसी कारण काव्यशास्त्र के पहले ग्रंथ का नाम 'नाट्यशास्त्र' है। कथा-वस्तु की सघनता में काव्य-तत्त्व और कविता की अंतर्वस्तुओं के भावाधार के लिए कथा-तत्त्व महत्त्वपूर्ण होता है; बिना आधार के धार या धारा -- चाहे वह जल-धारा हो, प्राण-धारा हो या फिर विचार-धारा ही क्यों न हो -- क्या संभव है! महत्त्वपूर्ण कहानियों की कथावस्तु की सघनता में काव्य-तत्त्व का भरपूर सन्निवेश हो रहा है, जबकि महत्त्वपूर्ण मानी गई कविताओं का कथात्मक भावाधार निरंतर छूटता चला जा रहा है। इस भावाधार की जमीन को पकड़ने के लिए इधर की कविता में कभी-कभी गाथाओं का सहारा लेने की प्रवृत्ति प्रकट हो रही है। लोकगाथाओं या महागाथाओं से कुछ हद तक कविता को वह भावाधार मिल सकता है, लेकिन अपने जीवनाधार के लिए, अंतत: व्यथा की कथा के काव्य-निवेश के उपायों पर ही सोचना होगा। सभ्यता की सरहद पर सरपट दौड़ते विकास के घोड़े के खुर से बार-बार रौंदे जाकर, दुनिया तेजी से कचरे के ढेर में बदलती जा रही है। यह सच पहले से अधिक तीखा होकर जीवन में उपस्थित है --'सच पराजित तो होता रहा है / मगर इतना हताश पहले कभी नही दिखा'9। हताशा के इस 'अँधेरे में' मुक्तिबोध को याद करें तो इस कचरे के ढेर पर खड़े होकर बाँग देने और मसीहा बनने के अवसर की तलाश भी आज पहले से कहीं ज्यादा हैं -- आज न तो कचरे की कमी है और न मसीहाई के उम्मीदवारों की। ऐसे कठिन समय में मुक्तिबोध के अनुभवों को दुहराना जरूरी है कि 'आज के हमारे निम्न-मध्यवर्गीय लेखक लोग, अपने ही दरिद्र बंधु-बांधवों को तलाक देकर, उनके अपने वर्ग का त्याग करने के लिए उत्सुक रहते हैं। वे शीघ्रातिशीघ्र एरिस्ट्रोकेटिक पश्चिमीकृत संस्करण बनाना चाहते है।'10 यह सच है कि समाज की दरिद्रता का आयतन बढ़ रहा है, कविता का अंत:करण सिकुड़ रहा है।

कविता से कोई सवाल करने के पहले खुद से सवाल करने का बुनियादी बोध और साहस तो होना ही चाहिए। मोहासिक्त होना और बात है; सवाल तो यह है कि अपनी कविता में हमारे खुद के लिए जीवन-शक्ति कितनी है और यह भी कि कविता हमारे खुद के जीवन की प्रतिज्ञा चाहे जितनी बड़ी हो, प्रेरणा कितनी बड़ी है !

संदर्भः

1 Inflated
2 ग़ालिब: दीवान-ए-ग़ालिब : सातवीं आवृत्ति 2004 : अली सरदार जाफ़रीः राजकमल पेपर बैक्स
3 Real से अधिक Virtual में
4 नामवर सिंह: कविता और अकविता (ज्ञानोदय, जून 1963): आलोचना के रचना-पुरुष: सं. भारत यायावर : वाणी प्रकाशन, 2003
5 कलात्मक अनुभवक संभावित रचनाकाल 1959-64 मुक्तिबोध रचनावली भाग - 5: राजकमल प्रकाशन
6 मंगलेश डबराल: हम जो देखते हैं -1995: कागज की कविता -1988
7 आचार्य रामचंद्र शुक्ल: चिंतामणि - पहला भाग : कविता क्या है ? : प्रकाशक - इंडियन प्रेस, प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद -1981
8 Use & Throw की जगह Use & Preserve
9 मदन कश्यप : झूठ (1995) : नीम रोशनी में : आधार प्रकाशन, 2000
10 कलात्मक अनुभवक संभावित रचनाकाल 1959-64 मुक्तिबोध रचनावली भाग – 5 : राजकमल प्रकाशन